हिंसा पर टिकी सभ्यता

प्रफुल्ल कोलख्यान

इन दिनों विश्व-व्यवस्था नए संक्रमण के दौर से गुजर रही है। विश्व की बड़ी-बड़ी आर्थिक शक्तियों की बुनियाद हिलती नजर आ रही है। वॉल स्ट्रीट दखल के संकल्प के साथ एक भिन्न प्रकार के आंदोलन का प्रभाव बढ़ रहा है। इस आंदोलन के विश्वव्यापी प्रभाव को गंभीरता से पढ़ा जाना चाहिए।

आक्रामक विकास और भ्रामक जनतंत्र के इस दौर में भ्रष्टाचार और हिंसा सबसे ज्यादा बजने वाले शब्द हैं। ये कोई नई आमद नहीं हैं। यह जरूर है कि हिंसा और भ्रष्टाचार का इतने बड़े पैमाने पर संगठित हो जाना शायद इसके पहले संभव नहीं हुआ था। नकारात्मक प्रवृत्तियों के इतने बड़े पैमाने पर संगठित होने का आक्रामक विकास से गहरा संबंध है। सभ्यता की शुरुआत में ही मनुष्य ने जीवन को हिंसा-मुक्त करने की चुनौतियों की गंभीरता को समझ लिया था।

हिंसा से मुक्ति के लिए ही सभ्यता में नए सिरे से संगठित होने की प्रक्रिया आरंभ हुई थी। विडंबना यह है कि संगठित होने की इस प्रक्रिया के भीतर भी हिंसा के लिए पर्याप्त जगह बनती गई। क्योंकि संगठित होने से शक्ति आती है और विवेक के ढीला पड़ते ही शक्ति हिंसा में बदल जाती है। लोग इस हिंसा से मुक्ति पाने के लिए फिर से संगठित होते हैं और फिर नए सिरे से हिंसा का खतरा पैदा हो जाता है। इस दुश्चक्र में फंसी सभ्यता के लिए हिंसा से मुक्ति दूर की बात होती चली गई।

संगठित-हिंसा सभ्यता को अपने कब्जे में लेने की तैयारी कर रही है। प्रति-हिंसा को दुर्निवार मानने वाला संगठित विचार भी हिंसा को जायज नहीं मानता। इसके बावजूद, हिंसा-मुक्त समाज-व्यवस्था हासिल करने का सपना संगठित विचार की नींद और नीम बेहोशी में बदल जाता है।

विकास की रफ्तार को ही नहीं, विकास की अवधारणा और घटना को भी धैर्य के साथ परखना जरूरी है। कितने भोले हैं वे लोग या फिर धूर्त, जो भारतीय संदर्भ में यह मानते और बताते हैं कि विकास के वातावरण में माओवादी समस्या खुद समाप्त हो जाएगी। माओवादी खुद को समस्या नहीं समाधान मानते हैं; साम्राज्यवादी आकांक्षाओं से उत्पन्न सामाजिक क्षय का समाधान। क्या यह पूरी तरह गलत है? इसे पूरी तरह गलत कहना समस्या के वजूद को ही नकार देना है। क्योंकि साम्राज्यवादी विकास की कुत्सित आकांक्षाओं का हिंसा और प्रतिहिंसा से गहरा संबंध आज स्वयंसिद्ध है।

रवींद्रनाथ ठाकुर के शब्दों को याद करें तो मानवीय गरिमा के लिए एक ऐसा परिवेश जरूरी होता है जिसमें चित्त भय-शून्य हो और माथा ऊंचा रखने की सहूलियत हो। संक्रमण के इस दौर में चित्त के भय शून्य होने; भूख के दुर्वह बोझ से लदे हुए, माथे के ऊंचा होने का तो सवाल ही नहीं उठता है। हिंसा दरअसल, प्रति-हिंसा के वेश में ही अपनी वैधता हासिल करने की कोशिश करती है। हिंसा-मुक्ति के मामले में एकमत होकर भी प्रति-हिंसा के सवाल पर काफी मतभेद हैं।

नागार्जुन जैसे बड़े कवि कहते हैं कि प्रति-हिंसा ही उनके कवि का स्थायी भाव है। ऐसा कहने के पीछे कवि की वेदना है, इसे उल्लास की तरह नहीं पढ़ा जाना चाहिए। यह एक गहरी बात है। इसे फूंक मार कर उड़ा देना न तो संभव है और न ही उचित। मानवीय गरिमा के साथ जीने का स्वप्न देखने वाले संवेदनशील व्यक्ति के पास क्या विकल्प बचा रहता है! क्या वह उस टोली में शामिल हो जाए जिसके बारे में मुक्तिबोध ने कहा था, सब चुप! या फिर उस धुएं को पकड़ने और उसके पक्ष में बोलने का साहस करे जिसे नागार्जुन ने भोजपुर की माटी में गहराता हुआ पाया था। यह चुप्पी सामान्य चुप्पी नहीं हो सकती। यह बोलना सामान्य बोलना नहीं है। क्योंकि चुप्पी उसे आत्म-हिंसा की अंधी घाटी की तरफ खींच कर ले जाती है और बोलना हिंसा के पक्ष में खड़ा कर देता है।

संविधान अभिव्यक्ति की चाहे जितनी गारंटी देता हो, आत्म-हिंसा की अंधी घाटी में फँसने से बचने और हिंसा के पक्ष में खड़ा कर दिए जाने की स्थिति से अपने को बचाते हुए बोलने का साहस तो खुद अर्जित करना पड़ता है। एक ओर विडंबना यह कि इस साहस को अकेल-अकेले अर्जित किया नहीं जा सकता और संगठित होकर इस साहस को अर्जित करने की कोशिश प्रथमतः प्रति-हिंसा तथा अंततः हिंसा के दल-दल में फँसा देती है! स्वभावतः, इस दुष्चक्र में फँसे साधारण गृहस्थ के मन में सन्निहित प्राथमिक स्तर का नागरिक साहस भी चुक जाता है। जब साहस ही चुक जाए तो व्यक्ति हकलाते-हकलाते एक दिन निर्वाक हो जाता है; वह चाहे जितने जोर से बोलता हुआ दिखे, दरअसल होता वह निर्वाक ही है।

दूसरी ओर हिंसा और प्रतिहिंसा के वातावरण में नागरिक मन में सक्रिय गृहस्थ विवेक का विकलांग हो जाना अचरज की बात नहीं है। इसकी भी स्वाभाविक परिणति साहस के चुकने में होती है। अशक्त विवेक और चुके हुए साहस के समय में समाज और व्यक्ति की आवाज दृश्य बन कर रह जाती है, अंतत: उसमें श्रव्य होने का कोई सामर्थ्य बच नहीं पाता है।

अश्रव्य शब्द की संवेदना का कर्तव्य-बोध से जुड़ना संभव नहीं हो सकता। हिंसा-मुक्त समाज-व्यवस्था को हासिल करने की दिशा में दुनिया के तमाम महान विचारकों और विचारधाराओं की जोरदार पैरवी के बावजूद विकास के इस सोपान पर हिंसा-मुक्त समाज-व्यवस्था को हासिल करने की दिशा में उठे किसी नैतिक और कारगर कदम की हल्की-सी आहट भी सभ्यता सुन नहीं पा रही है।

पूरी दुनिया में असहिष्णुता और हिंसा की बढ़ती प्रवृत्ति चिंताजनक है। इस प्रवृत्ति में वृद्धि ही नहीं हुई बल्कि उसके चरित्र में भी बदलाव हुआ है। कितने रंग और प्रकार की हिंसा ने हमारे सामाजिक जीवन को आक्रांत कर रखा है, यह सोच कर भी डर लगता है। अधिकतर मामलों में हिंसा के शिकार निर्दोष लोग ही होते हैं। कुछ थोड़े-से संगठित लोगों का झुंड निरीह लोगों पर हमला बोल देता है।

नाराजगी किसी से हो, मारे वे जाते हैं जिनका सीधे-सीधे कोई लेना-देना नहीं होता। सिद्धांतत: राष्ट्र अपने प्रत्येक नागरिक को सुरक्षा का आश्वासन देता है। व्यवहार में, जब लोग हिंसा के शिकार होते हैं तो उनके परिजनों को कुछ आर्थिक राहत देकर स्थिति को तात्कालिक रूप से संभालने की कोशिश की जाती है। दोषियों को सजा दिला पाना या ऐसी घटना के दुहराव को रोकने का सार्थक प्रयास राष्ट्र के लिए दुष्कर ही साबित होता है। क्योंकि राष्ट्र-संचालकों का कोई वर्चस्वशाली समूह जवाबदेही के घेरे में होता है।

आज माओवादी और आतंकवादी हिंसा को लेकर सबसे ज्यादा चिंता व्यक्त की जाती है। इन्हें रोकने के लिए राष्ट्रीय सरकारें और वैश्विक संस्थाएं प्रयास करती प्रतीत भी होती हैं। वैश्विक संस्थाओं की सदिच्छाओं, सरकार की वास्तविक राजनीतिक इच्छाशक्ति, विभिन्न एजेंसियों की कर्तव्यनिष्ठा, कार्य-क्षमता और दक्षता पर संदेह न भी करें तो भी बहुत सारे प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। माओवादी हों या आतंकवादी, अपनी सारी कार्रवाइयों को छिप कर अंजाम देते हैं। वे प्रशासन की पहुंच से बाहर होते हैं और आसानी से पकड़ में नहीं आते। माओवादियों और आतंकवादियों को पकड़ना सरकार के लिए मुश्किल-सा काम हो भी तो हुल्लड़बाजों पर काबू पाना क्यों मुश्किल है, इसका कोई उत्तर नहीं मिलता।

सरकारें चाहती हैं कि संवेदनशील लोग हिंसा से कोई सहानुभूति न रखें। भारत में संवेदनशील लोग अपनी कई गंभीर एवं वैध असहमतियों के बावजूद व्यापक तौर पर जनतंत्र और इसलिए सरकारों के प्रति सहानुभूति रखते आए हैं। एक समय निराला ने कहा था, गहन है यह अंधकारा, इस गगन में नहीं शशधर नहीं तारा, स्वार्थ के अवगुंठनों से लुंठित जगत सारा। चारों तरफ फैला उस समय का अंधकार और घना ही हुआ है क्योंकि स्वार्थ पहले से अधिक ढीठ और संगठित हुआ है।

हर किसी की समझ में यह सीधी बात आती है कि शोषण पर आधारित समाज-व्यवस्था हिंसा-मुक्त सभ्यता का स्वप्न तो देख सकती है, लेकिन इसे हासिल नहीं कर सकती। यह सभ्यता हिंसा को समाप्त करने की बात करती है, लेकिन शोषण की प्रक्रिया को रोकने की कोई व्यवस्था नहीं करती है। शोषण को सभ्यता की स्वाभाविक और अनिवार्य आधारशिला मानने वाले शोषण पर बात करने को भी चलन से बाहर करने में कामयाब हो रहे हैं।

इस समय सरकारें जिन नीतियों पर चल रही हैं वे शोषण के चक्र को तोड़ने के बजाय उसे और मजबूत कर रही हैं। हमारी सरकारें हिंसा की बढ़ती प्रवृत्ति को रोकने के प्रति बिल्कुल गंभीर नहीं हैं, ऐसा मानना शायद सही नहीं होगा। जनतांत्रिक सरकारों की नीयत पर संदेह करना ठीक नहीं है। मगर सरकारों की नीयत पर संदेह न भी करें, मगर नीति पर संदेह की भरपूर गुंजाइश है। कहना न होगा कि लंबे समय तक नीति का संदेह के घेरे में बने रहना अंतत: नीयत पर सवाल उठाने का मौका देता है। सरकारें अगर अपनी नीयत को लंबे समय तक संदेह के घेरे में बने रहने से बचाना चाहती हैं तो उन्हें तत्काल अपनी नीति बदलने की बात सोचनी होगी। भ्रष्टाचार के दलदल में निरंतर धंसती जा रही सरकारें अपनी जन-विरोधी नीतियों को बदलने की प्रक्रियाएँ ईमानदारी से प्रारंभ कर पाएंगी इसकी उम्मीद बहुत क्षीण है।

हिंसा और भ्रष्टाचार के आंतरिक रिश्ते को भी समझने की जरूरत है। सच तो यह है कि वर्तमान कानून के दायरे में भ्रष्टाचार के लिए बहुत बड़ी जगह सुरक्षित है। मौजूदा जनतंत्र पूंजीवाद की आंतरिक जरूरतों से बंधा हुआ है। पूंजीवाद और जनतंत्र के अंतर्विरोध से भ्रष्टाचार और हिंसा दोनों का गहरा संबंध है। असल में पूंजीवाद और जनतंत्र के संबंधों में बुनियादी गड़बड़ी के साथ हिंसा और भ्रष्टाचार के नाभि-नाल संबंध की अनदेखी नहीं की जा सकती। इस आक्रामक विकास के विन्यास में ही हिंसा का अक्षय बीज है। इन गड़बड़ियों के कारण अंतत: पूंजीवाद और जनतंत्र दोनों को अंतर्ध्वंस की अनिवार्य परिस्थितियों से गुजरना पड़ सकता है।

प्राथमिक तौर पर हिंसा और भ्रष्टाचार पूंजीवाद के साथ-साथ पूंजीपतियों को भी तात्कालिक रूप से अनिवार्य अंतर्ध्वंस से तो बचा ले जाता है लेकिन जनतंत्र और जन को अंतर्ध्वंस की कठिन परिस्थिति में डाल देता है। कहना न होगा कि जन और जनतंत्र का यह हाल अंततः पूंजीवाद और पूंजीपतियों के लिए भी शुभ नहीं होता है। इस अर्थ में हिंसा और भ्रष्टाचार के खिलाफ संघर्ष जन और जनतंत्र के लिए ही नहीं, पूंजीवाद के लिए भी जरूरी हो जाता है। पूंजीवाद और जनतंत्र के बीच सामंजस्य बहाल करना और व्यवस्था को समाज-कल्याणकी पटरी पर लाना इस समय की कठिन चुनौती है।